



## दलित अस्मिता के विविध पक्ष

गोपाल लाल मीणा

सहायक प्रोफेसर(हिन्दी विभाग)

स्वामी श्रद्धानन्द महाविद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

दिल्ली, भारत

### शोध संक्षेप

भारत में दलितों के बहुत बड़ा वर्ग है। इस वर्ग का अनेकानेक प्रकार से सैकड़ों वर्षों से शोषण किया जा रहा है। यह ऐसा वर्ग है जो बेजुबान है। इन्हें अनेकानेक बन्धनों में जकड़कर रखा गया। इससे मुक्ति के जितने प्रयास किये गए वे नाकाफी सिद्ध हुए। इनके रक्षण के कानून बना दिए गए, परन्तु जनमानस में बदलाव कानून से नहीं आता, वह तो करुणा से ही आता है। करुणावान महापुरुषों ने जब दलितों को दयनीय स्थिति में देखा तो वे उनके उद्धार के लिए सन्नद्ध हो गए। इनमें मनुष्य होने की चेतना जगाने का महत कार्य उन्होंने किया। प्रस्तुत शोध पत्र में दलितों के प्रश्न पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है।

### प्रस्तावना

बाबूराव बागुल ने 'दलित साहित्य: उद्देश्य और वैचारिकता' में लिखा है कि दलितों की स्थिति को दयनीय बनाने में स्वामित्व (अधिकार में रखने की भावना) और सत्ता का उदय आज के दलित जीवन के लिए जिम्मेदार है। उनके अनुसार- "मनुष्य समाज में जब से स्वामित्व, सत्ता का उदय हुआ, तब से सत्ता और उसकी धर्म सत्ता ;अर्थात् ब्राह्मण और शासक अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए अनेक तत्वों, प्रथाओं, रूढ़ियों, प्रतीकों और व्यवस्थाओं का निर्माण करते रहे हैं और जन्मजात विषमता दृढ़ होती गई है। जो लोग अस्पृश्य (अछूत) माने गए हैं, जिन्हें शूद्र-अस्पृश्य, (शूद्रादिशूद्र) कहा गया है। मनुष्य के रूप में उनके अधिकारों को नकारा गया है। उनको अवसर, साधन और शिक्षा से वंचित रखा गया है।"

इसी क्रम में बाबूराव बागुल कहते हैं कि दलितों के शोषण के लिए समाज का ऊपरी वर्ग जिम्मेदार नहीं है। यह तो दैवीय कृपा की देन है, ऐसा कहकर गैर-दलित शोषण को ईश्वर निर्मित बना देते हैं। जिससे शोषण और उत्पीड़न की परंपरा से मुक्त होकर शोषक को अदृश्य बना देते हैं। और उसी अदृश्य शक्ति का डर बार-बार दलितों को सताता रहता है। इसलिए सबसे पहले दलितों को शोषक की पहचान करना जरूरी है। बागुल इसी बात को इस प्रकार कहते हैं- "जब सारा दुःख, दैन्य, दासता परमेश्वर के दण्डविधान का ही प्रतिफलन है, तो जागृति कैसे आएगी ? क्रोध किसलिए आएगा ? शोषक कैसे दिखेगा ? इसलिए शत्रु है कहाँ? अत्याचारी तो दिखता ही नहीं। उसके विरुद्ध कर्मशूरता दिखाने का क्षेत्र ही नहीं है। और न ही है अपनी बुद्धि, शारीरिक ताकत, ज्ञान के उपयोग के लिए अवसर-अधिकार।

क्या ऐसे लोग सड़-गल नहीं जाएंगे ? हम कौन हैं, किस हालत में हैं, इसका बोध कैसे होगा ? जब बोध ही नहीं होगा, तो वे अपने अस्तित्व के लिए जूझेंगे कैसे ?”

पाप-पुण्य, दीनता-दासता, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, आदि को पिछले जन्म का फल बताकर शासक और शोषक की करतूतों पर पर्दा डाल देते हैं। और परमेश्वर के आगे अछूत अपने आप को निरुत्तर पाता है। इस बात का दोष किसे दें ? इसलिए महात्मा फूले की कलम से रोपा हुआ दलित लेखन का पौधा मराठी साहित्यकारों में अपने अस्तित्व के लिए सबसे पहले शोषक की पहचान करना जरूरी समझता है। इसी शुरुआत में 'ब्राह्मणों की चालाकी' कविता से इन प्रश्नों को सर्वप्रथम महात्मा फूले उठाते हैं। वह आगे दलित साहित्य लेखन की परम्परा में महावृक्ष के रूप में आज हमें दिखाई देता है। इन सभी दलित साहित्यकारों ने कहा कि हमारी इस स्थिति के लिए ईश्वर नहीं मनुष्य द्वारा रचे गए ग्रंथ, रूढ़ियाँ और परम्परायें जिम्मेदार हैं।

इन बातों से यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाया या मनुष्य ने ईश्वर को बनाया ? जिस ईश्वर को भारतीय समाज दीनदयाल, दीनबन्धु, करुणानिधि, दया का सागर, कृपानिधान आदि-आदि संबोधनों से पुकारते पुकारते नहीं थकता। लेकिन इस दलित वर्ग का उत्पीड़न, शोषण, और दैन्य जीवन पर ईश्वर की कोई कृपा नहीं होती। इस बात की पुष्टि बाबा 'नागार्जुन' की कविता 'मनुष्य की कल्पना: ईश्वर ' से भी होती है। "कल्पना के पुत्र हे भगवान! नामक कविता से स्वतः स्पष्ट होता है कि ईश्वर कुछ नहीं है यह तो मनुष्य की कल्पना मात्र है। इसी सन्दर्भ में ईश्वरीय सत्ता को सर्वप्रथम चुनौती देते हुए 'हीरा डोम' की भोजपुरी में कविता 'अछूत की

शिकायत' में ईश्वर से पूछता है कि क्या डोम जानकर वह भी हमें छूने से डरता है ? कहता है कि

“खंभा के फारि पहलाद के वंचवले जां  
ग्राह के मुंह से गजराज के बचवले।  
धोती जुरजोधना के भैया छोरत रहे,  
परगट होकै तहां कपड़ा बढ़वले।  
मरले रवनवां के पलले भभिखना के,  
कानी अंगुरी पे धर के पथरा उठवले।  
कहंवा सुतल बाटे सुनत न वारे अब,  
डोम जानि हमनी के छुए डेरइले।।

(अछूत की शिकायत-हीरा डोम)

जो ईश्वर खंभा फाड़कर प्रहलाद को बचाता है, गजराज की मगर से रक्षा करता है। द्रौपदी की लाज बचाता है। सारे गाँव की रक्षा के लिए पर्वत को उठा लेता है। फिर वही भगवान हमारी अस्मिता की रक्षा क्यों नहीं करता ? इस कविता में कवि ने ईश्वर की दयालु और रक्षक छवि को तोड़कर ईश्वर की सत्ता का खण्डन किया है। इसलिए ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है। परजीवी वर्ग ने केवल शोषण करने के लिए ईश्वर की रचना की। उसका भय दिखाया। और उस अज्ञात सत्ता के अज्ञात भय के नाम पर धार्मिकता का आवरण गढ़ा।

भारतीय समाज एक ऐसा समाज है जहाँ सामाजिक विसंगतियों की भरमार है। इन विसंगतियों को बढ़ावा देने में वेद, पुराण, स्मृतियों, संहिताओं और ग्रंथों का अहम योगदान है। इन ग्रंथों की रचना करने वाले रचनाकार जो केवल सिर्फ एक जाति विशेष से संबन्धित हैं। उन्होंने ऐसी-ऐसी धारणाओं को समाज में स्मृतियों, और उपदेशों के रूप में फैलाने और प्रचार करने के लिए भरपूर श्रमसाध्य प्रयत्न किए। इन्हीं के कारण भारतीय समाज की स्थापना और वर्ग

निर्धारण माना गया। और मोटे तौर पर भारतीय समाज में चतुर्वर्णी व्यवस्था की स्थापना की। इनको हम ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण के रूप में जानते हैं। शूद्र के लिए जो व्यवसाय निर्धारित किया गया उसमें महात्मा ज्योतिबा फूले के अनुसार -

“शूद्रादि को खेत में जूतकर आर्यों को पोसना चाहिए।”

इस तरह से शूद्र के लिए तीनों वर्णों की सेवा करने का जिम्मा सौंपा गया। वेदों को पढ़ने-लिखने और सुनने पर शूद्रों पर पाबन्दी लगा दी गयी और गलती से कोई पढ़ या लिख लेने पर अंगुली और हाथ काट लेते। सुनने पर कानों में शीशा डाल देते।

“सुनना वेदों का शूद्रों को बन्द किया।”

धर्म के बारे में दलित धर्म क्या है ? समाज के सभी तीनों वर्णों की सेवा करना। धर्म की अवधारणा इसलिए सृजित की गयी कि शूद्रों को लूटा जा सके। धर्म के नाम पर..जाति भेद को इसी के द्वारा जायज ठहराया, जिसका विरोध महात्मा फूले ने कुछ इस तरह से किया।

“जाति-भेद ब्राह्मणों को यथार्थ लगता,

म्लेच्छों को चीरता स्वार्थ के लिए,

ब्राह्मण सारे श्रेष्ठ खानदान से बनते।

हीन समझते दुनिया को,

धर्म-भेद उन्होंने स्वार्थ के लिए किया

शूद्रों को लूटने के लिए

धर्म के नाम पर।”

कर्म उन्होंने निर्धारित किया मजदूरी और मैला ढोने के लिए इसके लिए भी महात्मा फूले ने लिखा-

“लहलहाती धूप में नींव मजदूर खोदते,

टोकरी ढोते मलबे की।

इस प्रकार यह तो साबित होता है कि ब्राह्मणों ने ऐसे-ऐसे संस्कारों और मिथों का निर्माण किया जिसमें इस चौथे वर्ण को पूरी तरह से अधिकार विहीन, शोषित, और प्रवंचना के लिए मान लिया गया। श्रम और मेहनत का सम्पूर्ण जिम्मा इस वर्ग के लिए निर्धारित किया गया। लेकिन उस मेहनत पर मजा लूटने के लिए स्वयं यह वर्ग नहीं बल्कि अन्य वर्ण के लोग रहेंगे। ऐसी विसंगतिपूर्ण व्यवस्थाओं का निर्माण केवल परजीवी इस ब्राह्मण वर्ग ने ही किया।

महात्मा फूले ने इसी संबंध में ब्राह्मणों की सारी चाल-बाजी और चालाकी को समझ कर कहा है-

“अज्ञानी शूद्रों को अंहकार से सताता।

पूरी तरह इरता, अंग्रेजों से।।

पंडिताई का नशा अछूतों को दिखाता।

यवनों को खाता, गीदड़ों की तरह।।

इस प्रकार महात्मा फूले ने ब्राह्मणवादी मानसिकता की सही पहचान की। ब्राह्मणवादी और मनुवादी सोच जब तक भारतीय समाज में काम करती रहेगी, जब तक अशिक्षा और अज्ञानता है। अंग्रेजों के आने के बाद इन ताकतों का प्रभाव निश्चित रूप से कम हुआ, लेकिन बहुत बड़े अशिक्षित और अनपढ़ समाज में इनका प्रभाव आज भी कम नहीं। इसका ज्वलंत उदाहरण इस प्रकार देख सकते हैं-

‘ज्वार की दलिया मुझा भरपेट।

सुख नही किसानों को।।

टेककर तकिया के सहारे काम लिखने का।

बोल घमंडी के। भैस जैसे।।

जूतियाँ बिना पाँव चले हल के पीछे दिन-रात।

हांकते हैं बैलों को। गीतों को गाते-गाते।।

थाली पिकदानी भरी दोपहर में।

द्विज (ब्राह्मणादि) नींद लेते। बिछौने में।

सिर्फ तंबाकू चूने में मलकर खाते।

मीठी-मीठी नींद लेते कंबलों में।।  
इंद्रिय बुद्धि दोनों को समान।  
फिर ब्राह्मण क्यों सुखी। हुआ इतना।।  
सत्ता की मस्ती में उनकी शिक्षा बंद कर दी।  
शूद्रों ने स्वीकार कर लिया। हमेशा के लिए।।  
मनु जलकर खाक हो गया जब अंग्रेज आया।  
ज्ञान रूपी माँ ने हमको दूध पिलाया।।  
अब तो तुम भी पीछे न आओ।  
भाइयो, पूरी तरह जला के खाक कर दो। मनुवाद को।।

दलित अस्मिता में अपने अस्तित्व को बनाए रखना सबसे बड़ी चुनौती है हर मनुष्य अपने स्वाभिमान के साथ जीने की चाह रखता है। दलित जिस समाज का हिस्सा है उसे भी स्वाभिमान के साथ अपने अस्तित्व की रक्षा करना है। और इस रक्षा में विभिन्न चुनौतियों का मुकाबला करने का साहस और संघर्ष जरूरी है। इसलिए दलित साहित्य में सामाजिक परिवर्तन के साथ अपने स्वाभिमान का बोध भी दिखाई देता है। दलित साहित्य एवं दलितों के बारे में केवल भारती का कहना है कि "उनमें मनुष्य की प्रतिष्ठा है, जाति की पीड़ा है, वर्णव्यवस्था के खिलाफ विद्रोह है, समतावादी समाज की परिकल्पना है, मुक्ति संग्राम है, स्वतंत्रता की आकांक्षा है, भ्रातृत्व है, लोकतांत्रिक आस्थाएं हैं, चुनौतियों से मुकाबला करने का साहस है, संघर्ष है, स्वाभिमान का बोध है और सामाजिक परिवर्तन का लक्ष्य है।"

इसलिए दलित ईश्वर की सत्ता को नकारकर मनुष्य की सत्ता को स्वीकार कर लोकतांत्रिक व्यवस्था की बात अपनी रचनाओं के माध्यम से करते हैं। ईश्वर से मुक्त हुए बिना दलितों की मुक्ति कोरा एक स्वप्न है इसलिए जरूरी है कि ईश्वर को नकारकर मनुष्य को स्थापित करे।

दलित लेखन ने चाहे वह किसी भी भारतीय भाषा का हो इसी ईश्वरीय सत्ता का खंडन किया है। शास्त्रों का खंडन उसी का एक अंग है। शास्त्र भी मानव निर्मित है। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए ईश्वर और इन शास्त्रों की रचना की। आज का दलित लेखन इन दोनों को कठघरे में खड़ा करता है। और यहीं से आजादी की शुरुआत होती है। अपनी अस्मिता को नयी पहचान दिलाते हैं। और अपनी नयी सामाजिक अस्मिता का निर्माण करते हैं।

### धार्मिक एवं आर्थिक अस्मिता

भारतीय समाज की सामाजिक संरचना को घोषित करने वाली धार्मिक संहिता 'मनुस्मृति' में मनु ने कहा है कि ब्राह्मण का जन्म सृष्टि के जन्मदाता और जगदपिता ब्रह्मा के मुख से हुआ है। और क्षत्रियों की उत्पत्ति भुजाओं से और वैश्यों की उत्पत्ति उसकी जंघाओं तथा शूद्रों की उत्पत्ति पैरों से हुई ऐसी घोषणा करती है और उनके सामाजिक दायित्वों का भी निर्धारण करती है। इस पुस्तक में कहा गया है कि भारतीय समाज को चार वर्गों या वर्णों में विभाजित किया गया है। जिसमें चारों वर्णों का अलग-अलग कार्य है उसमें ब्राह्मणों को बौद्धिक कार्य करने वाला, क्षत्रिय देश की रक्षा करने एवं युद्धकला और बाहुबल देश, समाज को सुरक्षा प्रदान करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य में दक्ष एवं प्रवीण होकर अर्थव्यवस्था को समुन्नत करेंगे। इन तीनों वर्णों के अलावा चौथा वर्ण शूद्रों का था जिसे कमजोर और अयोग्य सिद्ध करके तीनों वर्गों की सेवा का दायित्व निर्धारित किया गया है। इस चौथे वर्ण के प्रति मनु ने बिल्कुल उपेक्षित, अधिकार विहीन करने और सभी प्रकार से वंचित बनाने की घोषणा की है। मनु ने इस विषय पर इस प्रकार कहा है-

“शूद्रं तु कारयेद्वास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।  
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा।।  
इस मनुस्मृति के अनेकानेक श्लोकों से यह तो कोई भी बुद्धिजीवी सहज ही समझ सकता है कि किस प्रकार मनु ने इन श्लोकों की रचना में केवल द्विज वर्ग का ही हित चिंतन किया है। सारे लाभ की स्थितियां केवल द्विजों की ही वकालत करती सी दिखती है। अन्य वर्णों के प्रति या तो पूर्वाग्रह होता है। या फिर वर्चस्ववादी सोच ही स्पष्ट होती है। इसलिए आधुनिक भारत के निर्माता डा.बी.आर.अम्बेडकर ने सबसे पहले मनु द्वारा रचित इस समाज को खंडित करने वाली पुस्तक का दहन करने के साथ कहते हैं किसी व्यक्ति का धर्म में जन्म लेना उसके हाथ में नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने अंतिम समय में धर्म परिवर्तन कर लिया और बौद्ध धर्म को स्वीकार लिया। क्योंकि इस धर्म में प्रेम, करुणा, और दया, अहिंसा, भ्रातृत्व जैसे उच्च मानवीय मूल्यों से युक्त भाव मौजूद थे। दलितों द्वारा बौद्ध धर्म अपनाने का जो कारण है उसको उचित मानते हुए बाबुराव बागुल इस विषय पर लिखते हैं कि-  
“हिन्दू धर्म में करुणा, प्रेम, भ्रातृत्व के लिए स्थान न होने के कारण शूद्र का समाज और साहित्य में स्थान नहीं रहा। परंतु यदि भगवान बुद्ध के धर्म की लोक-मानसिकता के निर्माण में प्रभावी भूमिका रहती, तो भारतीय पौराणिकता में प्रेम, करुणा, भ्रातृत्वभाव की परंपरा भी होती। और तब साहित्य में गरीब, दुर्बल, शूद्र-अस्पृश्य का भी स्थान रहता। उदाहरण के लिए, जातक कथाओं, थेर-थेरी गाथाओं को लिया जा सकता है, जिनमें उपेक्षितों का उल्लेख हुआ है।  
दलितों द्वारा धर्मान्तरण की इस प्रक्रिया से दलितों को कितना लाभ हुआ ? शोषण से

छुटकारा मिला या नहीं ? यह कह पाना बड़ा मुश्किल है मधुमंगेश कर्णिक की कहानी ‘धर्म’ इस बात को कुछ इस तरह से बयां करती है-

“बौद्ध हो जाने से क्या फायदा है ? क्या फायदा ? मराठो और ब्राह्मणों की तरह पाक-साफ हो जाते हैं, फिर कोई महारों से नफरत नहीं करता. दूर नहीं भागता।।”

लेकिन कहानी का यह अंश दलित समाज की अधूरी सच्चाई है। मराठी के ही प्रसिद्ध दलित साहित्यकार शरणकुमार लिंबाले का मानना है कि धर्मान्तरण से हमें कुछ नहीं मिला है। यह एक छलावा था। उनकी ‘जूताचोर’ कहानी इस सच्चाई को सबके सामने रखती है-

“धर्मान्तर के बावजूद हमारे सिर पर वही छप्पर था। हमारी गरीबी में कुछ भी बदलाव नहीं आया था। लेकिन एक बात सच थी कि हममें पौरुष जाग उठा था।।”

सुबह का समय था। गाँव में किसी के यहाँ जानवर मर गया था। महारों को उसे खींच ले जाने के लिए कहा गया। महारों ने जानवर को खींचने से इन्कार किया और गाँव वालों ने झोपड़ियों को आग लगा दी। इस आग में हमारा भी घर जल गया।

“अब हम बौद्ध हो चुके हैं।।”

“तुम्हें बौद्ध बनने के लिये किसने कहा था।।”

“हमें गाँव के बाहर रखने के लिए तुम्हें किसने कहा था।।”

अब पलटकर सवाल करने की ताकत हममें आ चुकी थी। चुपचाप थूक झेलने के दिन अब लद चुके थे। हमें आजादी मिल गयी थी। अधिकार मिल गये थे। इन्सान की हैसियत मिल गयी थी। लेकिन इस सच्चाई को मानने से इन्कार किया जा रहा था इसलिए हमारा घर जल गया। हम

खामोश रह गये, क्योंकि रोटी के सवाल का निर्णय होना अभी बाकी था।”

धर्मान्तरण की प्रक्रिया में दलितों ने अपना धर्म तो बदल लिया था, लेकिन धर्म बदलने से ही सारी समस्याएँ दूर नहीं हो जाती। मानव जीवन को जीवन जीने के लिए और भी मूलभूत जरूरतें होती हैं। उनमें रोटी और आजीविका का सवाल का समाधान धर्म परिवर्तन कर लेने मात्र से पीछा नहीं छोड़ता। केवल धर्म के आधार पर ही व्यक्ति समाज में सम्मान नहीं पा सकता। धर्मान्तरण से दलितों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनके सिर पर वही छप्पर, और गरीबी में कुछ बदलाव नहीं आया। लेकिन एक ताकत की ओर संकेत इस कहानी के माध्यम से किया गया कि अब पलटकर सवाल करने की ताकत उनमें आ चुकी थी। इस धर्मान्तरण से दलितों की दूसरी समस्या रोटी के सवाल का निर्णय नहीं हो सका। इसीलिए यह अभी अधूरा है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है कि समय के साथ बदलाव तो आया है लेकिन अभी यह बदलाव दलितों के लिए 'ऊँट के मुँह में जीरा' के समान है, इस बात की पुष्टि इस बात से हो जाती है- "वक्त बदला है, लेकिन कहीं कुछ है जो सहज नहीं होने देता है। कई विद्वानों से जानना चाहा कि सवर्णों के मन में दलितों, शूद्रों के लिए इतनी घृणा क्यों है ? पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों को पूजनेवाला हिन्दू दलितों के प्रति इतना असहिष्णु क्यों है ? आज जाति एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण घटक है।”

दलितों ने धर्म परिवर्तन कर लिया लेकिन दलितों के प्रति सवर्णों की मानसिकता में अभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनके लिए वे आज भी बौद्ध धर्म अपनाने के बाद भी दलित और अछूत ही

हैं। क्योंकि वे बौद्ध धर्म को भी अपने हिन्दू धर्म का ही एक अंग मानते हैं। इसलिए धर्मान्तरण से दलितों में रोजी-रोटी और छूआछूत, भेदभाव, और उनके प्रति अन्य सामाजिकों का नजरिया वही है जो पहले था। रोटी-बेटी का संबंध आज भी उनके लिए वैसा ही जैसे पहले था।

भारतीय हिन्दू धर्मशास्त्रों में प्रमुख ग्रन्थ 'मनुस्मृति' में शूद्रों के बारे में कहा है कि शूद्रों को धन-संचय और धन जुटाना ही नहीं चाहिए। और अन्य वर्ण के लोग भले ही कितना भी धन जुटा लें लेकिन यह अधिकार दलित समाज को मनु महाराज नहीं देना चाहते। वे किसी भी तरह से शूद्र समाज को खुशहाल देखना ही नहीं चाहते थे। वे तो इसे वंचित, उत्पीड़ित और शोषित ही बनाये रखना चाहते हैं। यह बात उनकी सही है कि पैसा होने से बुद्धि नष्ट होती है लेकिन यह किसने सिद्ध कर दिखाया कि यह द्विज वर्ग पर लागू नहीं होती। जो बात सार्वभौम सत्य है वह सभी जगह स्वीकार्य है लेकिन इन बातों को मापने के लिए कोई निश्चित पैमाना नहीं है। दूसरा यह कि क्या ब्राह्मणों और अन्य वर्णों के धन-संचय से दलितों को कष्ट नहीं पहुँचता ? फिर यह सब व्यर्थ के उपदेश सिर्फ दलितों पर ही भारी क्यों पड़ते हैं ? सबको समझने के लिए मनु का यह श्लोक देखा जा सकता है-

शक्तिनापि हि शूद्रेण न कार्योऽधनसंचयः।

शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते।।

अर्थात् शूद्र को सामर्थ्य रखने पर धन-संचय में नहीं लगना चाहिए, क्योंकि धन के आते ही शूद्र की बुद्धि नष्ट हो जाती है और वह ब्राह्मणों से द्रोह करने लगता है, जिसके फलस्वरूप उसका और अधिक अधःपतन होने लगता है।

इसलिए बड़ी साजिश के तहत दलितों को संपत्ति से बार-बार बेदखल कर दिया गया। उनकी जर,



जरा, और ज़मीन पर कर्ज देकर अन्य वर्णों के लोग बार-बार इस मामले में हस्तक्षेप करते रहे हैं। इसको महात्मा फूले ने इस प्रकार व्यक्त किया है-

शूद्र की मृत्यु के क्षण में ब्राह्मण, बैद, पंडित, व पुरोहित बनकर उसकी औरत को क्रूरता से किस प्रकार लूटता है-

“प्राण पखेरू उड़ गया। मौका जान गया।

भड़भड़ा पुराण पढ़ गया।

दान-धर्म मांगना शुरू किया।।

इस लूट में ब्राह्मण कतई संवेदनशील नहीं होता। शूद्रों के घरों में शोक संतप्त होने पर भी वह उनसे लूटने की कोशिश में रहता है। इसी लिए ब्राह्मण के लिए कहा जाता है इससे बढ़कर कोई नास्तिक नहीं होता। वह मृत्यु, जन्म, रोग, शोक, और न जाने ऐसे-वैसे कितने ही अवसरों पर संस्कारों के नाम लूट ही तो करता है। महात्मा फूले ने इसका एक उदाहरण दिया है। वह इस प्रकार है-

“पंडित भया साहूकार।

शूद्र कर्जदार।

कर्ज खेत के नाम किया।

भोजन जाति को खिलाया।

थोड़े दिन में ब्याज कर्ज में।

गिरवी खाता पूरा नया किया।

मिरासी पंडित वारिस हुआ।।

यह सच ही कहा जाता है कि पैसा आदमी में सामंती भाव जगा देता है। और टोटा निरीह बना देता है। जात-पांत एक होने पर भी पैसा दो व्यक्तियों में अन्तर पैदा कर देता है। इसीलिए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दलितों की निरीहता का कारण अर्थाभाव ही सबसे मोटा कारण है। और दलित समाज दीनता और दासता के पीछे आर्थिक संकट से हमेशा ग्रस्त रहता है।

इस वर्ग में पैसा कभी भी पानी-सा स्रोत नहीं रहा। इसी के कारण दलित वर्ग का दिमाग रोजमर्रा की समस्याओं से बाहर सोच ही नहीं सकता। अपनी दिनचर्या को ठीक से निष्पादन में ही उनकी संपूर्ण शक्ति जाया होती रहती है। इस वर्ग के लोगों के पास सुदृढ़ आर्थिक स्थिति नहीं होने के कारण रोज नया कुआ खोदते हैं और अपनी प्यास बुझाते हैं। आर्थिक मामलों में दलित थोड़ा भी असंतुलित होने पर अन्य वर्णों के लोगों के पास सहायता के लिए पहुंचता है और वहीं से उसके शोषण और दमन का सिलसिला शुरू हो जाता है। उसे अन्य वर्णों के लोगों से सहायता कम और शोषण और उत्पीड़न अधिक मिलता है। राजनैतिक अस्मिता

किसी भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था में जनमत और जनबल का बड़ा महत्व है। और किसी भी व्यवस्था का संचालन और निर्माण बहुमत द्वारा ही निर्धारित होता है। राजनीति में भी शक्ति और सत्तासम्पन्न वही है जिसके पास जनबल है। राज्य और राज्यों की नीति निर्धारण और निर्माण साथ ही हित चिंतन में जनसंख्या और उसके मत विश्वास को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी बात को जियालाल आर्य इस प्रकार कहते हैं-“लोकतान्त्रिक व्यवस्था में संख्या और संगठन का बहुत महत्त्व है। संख्या कम होने पर भी यदि एकतान्त्रिक संगठन है, एक आवाज, एक पहचान है, तब उसका महत्व आज की व्यवस्था में अधिकतम है। इसी बल पर सवर्ण जातियां भारत और भारत के राज्यों की प्रशासनिक व्यवस्था पर आधिपत्य बनाये हुए हैं। पचासी प्रतिशत अवर्ण जातियों पर पन्द्रह प्रतिशत सवर्ण जातियों का राज है। संगठन के साथ बुद्धिबल का विशेष महत्व है, आज की राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था में। जिसके

पास वित्तबल, बुद्धिबल और संगठन बल होता है, वही राज करता है। उसका आधिपत्य आर्थिक स्रोतों पर-कृषि, उद्योग, व्यवसाय एवं नौकरी आदि पर होता है।”

डॉ.अम्बेडकर ने दलितों में समाज सुधार, शिक्षा, और फिर बाद में उनके उचित प्रतिनिधित्व की बात की है। उन्होंने कहा कि-शिक्षित बनो, संघर्ष करो, और संगठित रहो। वे शायद इसी संगठन से भारतीय राजनीति में दलितों द्वारा दखल और दलितों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करवाने हेतु प्रयास तो आजादी से पूर्व ही डॉ.अम्बेडकर द्वारा किए जा रहे थे। इस पर प्रवेश कुमार कहते हैं- “शूद्र जातियों को एक झण्डे के तले लाने हेतु समय-समय पर विभिन्न पहचानों की निर्मित किया गया है। सर्वप्रथम डॉ.अम्बेडकर ने तमाम पिछड़ी और अस्पृश्य जातियों को एक मंच पर एकत्रित करने, उनको लामबन्दी करने हेतु तथा इनके मध्य एक सामूहिक पहचान को पैदा करने के लिए “डीप्रेस्ड क्लास” शब्द का प्रयोग किया। इसी प्रकार महात्मा गांधी ने भी अस्पृश्य जातियों को एक सामूहिक पहचान ‘हरिजन’ के रूप में प्रदान की। भारत में पेरियार ने ‘द्रविड़’ पहचान के तले यह राजनीतिक लामबन्दीकरण करने का प्रयास किया। इसी क्रम में 70 के दशक में दलित पेंथर आंदोलन के नायकों ने इन निचली और अस्पृश्य जातियों का राजनीतिक लामबन्दीकरण करने हेतु ‘दलित’ शब्द का प्रयोग किया। दलित शब्द इस समाज में अधिक प्रचलित हुआ और धुवीकरण का एक कारगर शस्त्र भी बना। जिस शब्द की पहचान के तले तमाम अस्पृश्य जातियां जो कई हजार जातियों और उपजातियों में विभाजित हैं, एकजुट होकर अपनी साड़ी पहचान के रूप में इस समाज

व्यवस्था में अपनी सामूहिक पहचान को निर्मित कर सकी।”

दलित अस्मिता पर विचार करते हुए सबसे पहले सवाल यह उठता है कि सबसे पहले व्यक्ति स्वयं को पहचाने। तभी वह अपनी अस्मिता की जांच में संलग्न होगा। यदि उसको अपना अस्मिता बोध ही नहीं है तो अपनी अस्मिता को विलीन करने और होने का उसे अहसास ही नहीं होगा। शायद यही काम सबसे पहले डॉ.अम्बेडकर और महात्मा फूले जैसे मनीषी करना चाहते थे। इस पर प्रवेश कुमार कहते हैं कि-“पहचान का अर्थ - व्यक्ति क्या है ?-से है, पहचान में कौन हूँ को स्पष्ट करती है। पहचान व्यक्ति को सामाजिक दायरे में दखल प्रदान करती है, वह क्या है, उसकी विशेषता क्या है, वह किस आधार पर अन्यो से भिन्न है। पहचान व्यक्ति की विशिष्टताओं के आधार पर उसकी अन्यो से भिन्नता और समानता को जानने का एक तकाजा है। पहचान किसी व्यक्ति और समुदाय को भिन्न विशिष्टताओं के आधार पर अन्य से अलग करती है। पहचान बनाने की कोशिश इसी प्रश्न से शुरू होती है जब एक व्यक्ति सोचता है कि मैं कौन हूँ तो वह उसका हल तलाशने के लिए तमाम कोशिश करता है और इसी क्रम में इतिहास को खंगालने का प्रयास भी करता है और तब कुछ ना कुछ विशिष्टताओं को, जो अन्यो से अलग हो, उनको खोज ही लेता है। इन्हीं विशिष्ट पहचान के आधार पर पहचान की राजनीति की शुरुआत होती है जैसे जाति, धर्म, लिंग, समुदाय, व्यवसाय आदि सभी व्यक्ति की एक अपनी निजी पहचान को निर्मित करते हैं। पहचान लामबन्दीकरण का एक कारगर शस्त्र है, जिसके माध्यम से समान अस्मिता से जुड़े लोग एकत्रित हो जाते हैं।”



इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि 'पहचान' या अस्मिता बोध के लिए सर्वप्रथम उसे शिक्षित होना पड़ेगा। शिक्षा से विचार और विचार और चिंतन से अपने 'स्व' का बोध अपने आप ही हो जाएगा। दलित अस्मिता की पहचान के लिए दलित वर्ग के महानायकों का कहना है कि "सबसे पहले शोषित वर्ग को उसके दुख-दर्द का एहसास कराओ। इस एहसास को चेतना में बदलो, वर्ग चेतना को विचारधारा दो, विचारधारा को संगठन में बदलो और संगठन को राजनीतिक दल का आकार दो। अब राजनीतिक दल को सत्ता में बदल दो।"

ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपनी पहचान की निर्मिति इतिहास, धर्म, संस्कृति, जाति, व्यवसाय, आदि के माध्यम से ढूँढ निकालने के प्रयास में अपने आप जुट जाएगा। दलित अस्मिता को स्पष्ट करते हुए प्रवेश कुमार कहते हैं कि- "पहचान व्यक्ति को जानने में मदद करती है। जिस प्रकार भारतीय वर्ण व्यवस्था में चार वर्णों की भिन्न-भिन्न पहचान रही थी चाहे उसका आधार कार्य या जन्म अथवा उनके रहने की परिस्थितियों को लेकर रहा हो। इसी प्रकार दलित की भी भिन्न पहचान है। संविधान के द्वारा भी इन जातियों की भिन्न पहचान को प्रदर्शित किया गया है और इस अलग पहचान को आधार मानकर उनकी परिस्थितियों के अध्ययन के उपरान्त आरक्षण के प्रावधानों और विशेष सुविधाओं का प्रावधान किया गया है।"

भारतीय राजनीति में दलितों को लेकर विभिन्न राजनैतिक दलों की मंशा क्या रही ? दलित समस्याओं को लेकर क्या कार्यक्रम बनाये ? उनमें दलितों की स्थिति क्या रही ? इसको इस प्रकार समझा जा सकता है- "संवैधानिक बाध्यता के मद्देनजर विभिन्न राजनैतिक दलों ने दलितों

के लिए आरक्षित स्थानों में अपने दलों से विभिन्न दलित प्रत्याशियों को लड़ाया है क्योंकि यह संवैधानिक बाध्यता थी और इसका कोड़ और अतिरिक्त तोड़(हल) नहीं था। क्योंकि दलित आरक्षित स्थानों पर केवल दलित वर्ग का प्रत्याशी ही लड़ सकता है। पर इन दलों ने इन विभिन्न दलित नेताओं को अपने दल द्वारा बनाई सरकारों में क्या दायित्व और पद प्रदान किए, यह देखना अधिक आवश्यक हो जाता है, क्योंकि इस वितरण में किसी तरह की कोई संवैधानिक बाध्यता नहीं है। बिना किसी बाध्यता के विभिन्न राजनैतिक दलों ने दलितों के उत्थान के लिए उनकी सहभागिता को लेकर किस तरह की नीयत और चरित्र का परिचय दिया।"

सभी राजनैतिक दलों ने दलितों को अपने दल से दलित प्रत्याशी उतार कर दलित वोट का समुचित दोहन तो किया लेकिन वास्तविकता में देखे तो उस व्यापक दलित समाज के समुचित विकास और समस्याओं को नजर अंदाज भी किया। इस आंशिक सच्चाई को स्वीकार किया जाता रहा है।

दलितों के लिए किए जा रहे कुछ प्रयास संवैधानिक स्तर पर तो सुरक्षित हुए भी लेकिन भारतीय समाज की मानसिकता में दलितों को सही मायने में प्रतिनिधित्व देने की मंशा तो न के बराबर है। उनकी पहचान और अस्तित्व संरक्षण की वास्तविक स्थिति पर प्रो. श्यौराजसिंह बेचैन कहते हैं कि- "दलित भारत का दुर्भाग्य है कि कानून बनने के बावजूद समाज, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य और मीडिया में अस्पृश्यता अतीत की वस्तु नहीं बनी है। स्थिति में इजाफा यह कि सुधरे हुए परिवर्तित रूप में अस्पृश्यता पहले शरीर से होती थी अब विचारों/हितों और हकों से होती है जो शरीर पर

कम, मन मस्तिष्क पर अधिक आघात पहुंचाती है। बौद्धिक क्षेत्रों से दलितों का बहिष्कार इसके ज्वलंत उदाहरण है।”

सांस्कृतिक अस्मिता

दलितों की सांस्कृतिक अस्मिता की खोज और उसकी पड़ताल के लिए सबसे पहले भारतीय इतिहास और इतिहास लेखन की परम्परा के बारे में कई सवाल उठते हैं। उसी पर ‘कंवल भारती’ कहते हैं- “भारत के इतिहास लेखकों ने दलित वर्गों के इतिहास की सदैव उपेक्षा की। उपेक्षा ही नहीं की, बल्कि उसको नष्ट और विकृत करने का भी प्रयास किया। उन्होंने शिव को नशेड़ी, गंजेड़ी, और भंगेड़ी दिखाकर आदिवासियों के आराध्य नायक को विकृत किया, उन्होंने दलित चेतना के महानायकों और अग्रदूतों को उपेक्षित किया। कबीर, रैदास, आदि सन्तों के चरित्रों को विकृत किया। उन्होंने अपने ढंग से स्वयं को स्थापित करने वाले इतिहास, साहित्य और दर्शन की रचना की। आर्यों ने अपनी वर्णव्यवस्था में दलित-शूद्रों (गैर-द्विजों) को शिक्षा, धनार्जन तथा शस्त्रधारण से वंचित करके उन्हें शासित और सेवक श्रेणी बनाने की व्यवस्था लागू की थी। छल-बल से शूद्र राजाओं को मारकर उन्होंने ब्राह्मणी प्रभुत्व की स्थापना की थी।”

इससे स्पष्ट होता है कि इतिहास लेखन का कार्य सत्ता और शासन के समानान्तर तथा उसकी इच्छा, अपेक्षा और सुविधा के अनुसार लिखा गया है। जिसमें प्रभुत्वशाली वर्ग ने अधीनस्थ समाज को सदैव उपेक्षित ही नहीं किया अपितु कालान्तर में परम्परा, रूढ़ियों और संस्कारों की निर्मितियों से अधीनस्थ ही बना डाला। यह सब अचानक से ही नहीं हो जाता। एक लंबे समय के पूर्व नियोजित सांस्कृतिकरण के कारण ही सम्भव था। राज्य सत्ता और उसका बौद्धिक वर्ग इस

स्थिति के निर्माण में बराबर का भागीदार है। भारतीय समाज में बौद्धिक वर्ग से सीधा सा आशय ब्राह्मण वर्ग से है। और सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि इस वर्ग ने अपने जाति हित की सुरक्षा और संरक्षण के लिए ब्राह्मण को सर्वोपरि और गुरुत्व के पद पर स्थापित किया। फिर ऐसे वर्ग से इतिहास लेखन के निरपेक्ष भाव से लिखने की कैसे अपेक्षा कर सकते हैं ? इतिहास में तो जो हुआ उसका हवाला देने का आधुनिक युग में कोई फायदा नहीं। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि आधुनिक काल में भी इतिहासकार, धर्मशास्त्री, अर्थशास्त्री सभी ‘दलित अस्मिता’ को संज्ञान में भी नहीं लाते। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कहीं इन्होंने भी तो अपने जाति हितों की सुरक्षा का ही तो संरक्षण नहीं किया है। इनकी संदिग्ध भूमिका नजर आती है। इस पर कंवल भारती कहते हैं कि-

“वर्णव्यवस्था को ही नयी विचारधारा के साथ सजा-संवार कर प्रस्तुत किया है। इसलिए उनके राष्ट्र चिंतन में सब कुछ है, यदि नहीं है तो दलित अस्मिता का इतिहास नहीं है, दलित मुक्ति के सवाल नहीं है। उन्होंने देश की आजादी की लड़ाई को तो अपने चिन्तन में याद किया, पर दलितों की लड़ाई को भूल गये।”

इस प्रकार राष्ट्र और राष्ट्रीयता जैसे गंभीर विषयों पर यदि बात की जाये तो राष्ट्र और राष्ट्रीय आबादी का बहुत बड़ा वर्ग की जन-भावनाएं, समस्याएँ और उसकी सामाजिक, आर्थिक समस्याओं की अनदेखी कैसे की जा सकती है। इसमें दलित और पिछड़े वर्ग के लिए चिन्तन और चिन्ता कहीं दिखाई नहीं देती। इसी पर कंवल भारती ने कहा है कि “द्विजों के साहित्यिक इतिहासों में दलित साहित्य की उपेक्षा सांस्कृतिक कारणों से है। दूसरे शब्दों में वह

उपेक्षा दलित साहित्य की नहीं है, दलित संस्कृति की है, दलित साहित्य के नैतिक और सौंदर्य बोधक मूल्य वस्तुतः दलित संस्कृति के मूल्य हैं। इसलिये दलित साहित्य दलितों की अपनी ही भाषा में लिखा गया, जो उनकी संस्कृति की वाहक भाषा है। एक प्रकार से दलित लेखकों ने अपनी भाषा के माध्यम से अपने साहित्य में अपनी संस्कृति को अभिव्यक्ति दी है। यही कारण है कि दलितों ने अपने सांस्कृतिक विरोध के आधार पर दलित साहित्य की उपेक्षा की।”

ऐसा नहीं कि अनार्यों और भारत के मूल निवासियों के पास कोई अपनी संस्कृति, भाषा, कला, शिक्षा, इतिहास और सभ्यता नहीं थी, लेकिन उस सब को नष्ट करने के लिए उन्होंने जो किया उस पर कंवल भारती कहते हैं-

“उन्होंने संस्कृत को, जिसे वह सभ्य और देवभाषा कहते थे, और जो उनकी शिक्षा की माध्यम थी, दलित को न सिर्फ पढ़ने से रोका, बल्कि उसके पढ़ने पर दलितों को दण्डित भी किया। उन्होंने बाकायदा राजसत्ता के बल पर दलितों को पढ़ने लिखने से वंचित कर दिया, जिससे वे विकास में पिछड़ते गये अपनी आर्थिक स्वतंत्रता खोते गये। इस गुलामी के कारण दलित अपनी कला और शिक्षा को विकसित रूप नहीं दे सके। दलितों ने दलित संस्कृति के साथ एक व्यवहार यह किया कि दलितों की कला, नृत्य, साहित्य, धर्म, भाषा और इतिहास को घृणास्पद बनाने की कोशिश की उनके कला-कौशल को जातीय आधार देकर हेय तथा नीच बताकर महत्वहीन बना दिया।”

निष्कर्ष

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि आर्यों और अनार्यों के संघर्ष के बाद अनार्यों की पराजय ही आर्यों द्वारा अनार्य संस्कृति के पराभव का

कारण है। और आर्य संस्कृति की विजय ने सत्ता और राज्य शक्ति के सहारे से भारत की मूल संस्कृति को विनष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यहीं से अनार्यों और भारत के मूल निवासियों को अधीनस्थता की ओर अग्रसर किया। राज्य के सम्पूर्ण उत्पादन में इस उत्पादक वर्ग के उत्पादन का उपभोक्ता वर्ग (आर्यों, दलितों) ने भरपूर दोहन किया। अपने धार्मिक संस्कारों को किस प्रकार अधीनस्थ वर्ग में स्थापित किया। इस अधीनस्थ वर्ग को उसी धर्म और संस्कृति का अनुगामी होना पड़ा जिसने उनको इस स्थिति में पहुंचाया है। इस पर कंवल भारती कहते हैं कि- “धर्म के नाम पर जिस समाज को कठोर यातनाएं सहनी पड़ी हो, मानवीय अधिकारों से वंचित रहकर ‘अन्त्यज’ का बहिष्कृत जीवन जीना पड़ा हो, अपना धन-धान्य सब कुछ छिनवाकर गाढ़े परिश्रम के बावजूद अधपेट भोजन कर, अधनंगा रहकर आर्थिक परतंत्रता में रहना पड़ा हो और जिसको विद्या से अलग रखकर सदा-सर्वदा घृणित पेशे करते रहने के लिए बाध्य किया गया हो, उस समाज का विद्रोही होना और शिक्षार्जन के बाद क्रांति-स्रष्टा हो जाना पूरी तरह स्वाभाविक है, परन्तु उस समाज का साहित्य आज भी धर्म से सम्पृक्त है और धर्म का समर्थन करता है, तो यह सतही नहीं, अपितु गम्भीर विषय है और इसे इसकी ऐतिहासिकता में समझने की आवश्यकता है।”

इस अधीनस्थ वर्ग के पास अपना इतिहास, शिक्षा, धर्म, और सांस्कृतिक प्रतीक न होने के चलते यह वर्ग अपने प्रभु वर्ग के इतिहास, धर्म, साहित्य, और सांस्कृतिक प्रतीकों और संस्कृति को स्वीकार करने के लिए मजबूर होता है।

यह एक लंबी सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप यह वर्ग अपनी अस्मिता प्रभु

वर्ग की अस्मिता से ही मानने लगा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि दलित-संस्कृति कभी भी अलगाववादी संस्कृति नहीं रही, और वही सही अर्थों में भारतीय लोक संस्कृति है। आधुनिक शिक्षा, और औपनिवेशी संस्कृति और संस्कारों के समागम के फलस्वरूप अब हर व्यक्ति, समाज, और वर्ग अपनी पहचान और अस्मिता की खोज में लगा है। उसकी प्राप्ति के लिए जब वह चिंतन करता है तो वह अपने अतीत, इतिहास, धर्म, और अपने वर्तमान की पड़ताल अवश्य करता है। इसमें फिर अपने 'स्व' और अस्मिता की जांच में सांस्कृतिक अस्मिता की खोज शुरू होती है। वर्तमान समय में चलने वाले नये-नये विमर्श इसी के कार्य और कारण सम्बन्धों की कसौटी से उभरते हैं। दलित विमर्श के लिए भी दलितों की सांस्कृतिक अस्मिता की परख भी इसी का परिणाम और उसकी उपज है। दलित अस्मिता को भी अब बदलते सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों और सन्दर्भों में समझने और जांच-पड़ताल करने की आवश्यकता है।

## संदर्भ ग्रन्थ

- 1 वसुधा, सं.प्रो. कमलाप्रसाद, अंक-58, जुलाई-सितम्बर, 2003, पृ.सं.24
- 2 वसुधा, सं.प्रो. कमलाप्रसाद, अंक-58, जुलाई-सितम्बर, 2003, पृ.सं.24
- 3 संकलन-वसुधा, अंक-58, जु-सि. 2003, पृ.सं. 65-66
- 4 ज्योतिबा फूले रचनावली, भाग-2, सं. एल.जी.मेश्राम 'विमलकीर्ति', पृ.सं.241
- 5 ज्योतिबा फूले रचनावली, भाग-1, सं. एल.जी.मेश्राम 'विमलकीर्ति', पृ.सं.119
- 6 ज्योतिबा फूले रचनावली, भाग-2, सं. एल.जी.मेश्राम 'विमलकीर्ति', पृ.सं.235
- 7 ज्योतिबा फूले रचनावली, भाग-1, सं. एल.जी.मेश्राम 'विमलकीर्ति', पृ.सं.106

- 8 ज्योतिबा फूले रचनावली, भाग-1, पृ.-सं-236
- 9 दलित साहित्य की अवधारणा, कंवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन रामपुर, उ.प्र. सं. 2006 पृ.सं.66,
- 10 मनुस्मृति, टीकाकारण वादरायण, श्लोक-412, पृ.सं. 389
- 11 दलित साहित्य: उद्देश्य और वैचारिकता, बाबूराव बागुल, वसुधा, अंक-58, पे.सं.31
- 12 समांतर कहानी विशेषांक, 'सारिका' मई 1975, सं. कमलेश्वर, पे. सं. 42
- 13 वसुधा अंक-58, कहानी, 'जूताचोर' शरण कुमार लिंबाले- अनुदित, पृ.सं.444
- 14 ओमप्रकाश वाल्मीकि, एक दलित की आत्मकथा, हरिजन से दलित, सं. राजकिशोर, पृ.सं. 25
- 15 मनुस्मृति, 10/126/473
- 16 म.फूले. र. भाग-1/113
- 17 म. फूले. र. भाग -1/116
- 18 दलित समाज: आज की चुनौतिया जियालाल आर्य, पृ.सं. 24
- 19 दलित अस्मिता की राजनीति, प्रवेश कुमार, पृ.सं-40-41
- 20 दलित अस्मिता की राजनीति, प्रवेश कुमार, पृ.सं-46
- 21 दलित अस्मिता की राजनीति, प्रवेश कुमार, पृ.सं-116
- 22 दलित अस्मिता की राजनीति, प्रवेश कुमार, पृ.सं-47
- 23 दलित अस्मिता की राजनीति, प्रवेश कुमार, पृ.सं-74
- 24 दलित अस्मिता की राजनीति, प्रवेश कुमार, पृ.सं-108
- 25 दलित अस्मिता की राजनीति, प्रवेश कुमार, पृ.सं-154
- 26 अघोषित पाबंदियों के बीच सत्ता-विमर्श और दलित, श्यौराजसिंह बेचैन, हंस, विशेषांक, अगस्त 2004
- 27 दलित अस्मिता की अवधारणा, कंवल भारती, पृ.सं.36
- 28 दलित अस्मिता की अवधारणा, कंवल भारती, पृ.सं.37
- 29 दलित अस्मिता की अवधारणा, कंवल भारती, पृ.सं.139
- 30 दलित अस्मिता की अवधारणा, कंवल भारती, पृ.सं.142-143



31 दलित अस्मिता की अवधारणा, कंवल भारती,  
पृ.सं.88